छत्तीसगढ़ी लोक-नृत्यगीत 'सुआ'

विभाषा मिश्र

इस सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानव सृजनशील, विवेकशील तो है ही, उत्सवधर्मी भी है। यह उत्सवधर्मिता उसे सामाजिक बनाती है, जिसमें वह अन्य सदस्यों के साथ मिलकर सुख-दुख का सहभागी होता है। व्यावहारिक जगत में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो अपनी समस्त इच्छाएँ पूरी कर सके। मानव-मेधा ने इस अभाव की पूर्ति कलाओं के जरिये करने का उपक्रम किया। जब व्यक्ति-चेतना सामूहिक चेतना में एकाकार हो जाती है, तब लोकसाहित्य या लोककला का जन्म होता है।

"कलाओं के उद्‌भव और विकास का पहला चरण लोकभावना और सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित रहा। कला के सृजन और उपभोग दोनों में सामुदायिक भावना स्पष्ट रूप से दिखायी पड़ती है। समूह मिलकर गाता और नाचता है।"[1]

"वस्तुतः हर लोकसाहित्य में साथ-साथ चलने वाले दो संसार मिलते हैं। एक संसार वास्तविक है, तो दूसरा स्वप्निल या काल्पनिक। स्वप्निल संसार में हर वधू का पलंग सोने का होता है, हर माता की मचिया सोने की होती है, हर वर सोने की खड़ाऊँ पहनता है। इसी में उड़ने वाले घोड़े और कालीन हैं, खुद लग जाने वाला दस्तरखान है, वह अमरफल है, जिसे खा लेने पर मृत्यु का प्रभाव जाता रहता है। ये केवल यौनभावना की तृप्ति नहीं हैं, वरन् इनका संबंध मनुष्य की एक विस्तृत इच्छा क्षेत्र से है। इस प्रकार के काल्पनिक चित्रों के माध्यम से वह सब चरितार्थ हो जाता है, जो हमारे कठोर जीवन में कभी संभव नहीं हो पाता है। ये चित्र पूरे समुदाय की आकांक्षाओं को व्यक्त करते हैं। अभिप्राय यह है कि लोकसाहित्य जनता का स्वप्न है। इसमें व्यक्त कुछ स्वप्न तो इतने अर्थवत्तापूर्ण होते हैं कि उनका आकर्षण सदियों तक बना रह जाता है-मुख्यतः वैसे स्वप्नों का, जो मानवीय प्रवेगों को गहराई से व्यक्त करते हैं अथवा जो मनुष्य द्‌वारा प्राकृतिक और पारिस्थितिक व्यवधानों, बुनियादी मानवीय सीमाओं या सामाजिक यंत्रणाओं के अतिक्रमण को चित्रित करते हैं।"[2]

लोक-जीवन और उसकी सहज अभिव्यक्ति नित्य नवीन और चीर-सामयिक है। समाज के प्रांगण में प्रफुल्लित विकसित संपूर्ण मानवी भावनाएँ, विश्वास और मान्यताएँ, परंपराएँ और रीतियाँ, लोकगीत की प्रेरक परिस्थितियाँ है। लोक-जीवन के अंतर्मन की अतल गहराइयों से उपजी भावानुभूति है। इसलिए लोकगीतों में लोक-समाज का क्रिया-व्यापार, जय-पराजय, हर्ष-विषाद, उत्थान-पतन, सुख-दुख सब समाहित रहता है। इस संदर्भ में हजारी प्रसाद द्‌विवेदी ने कहा है कि-"ये गीत प्रकृति के उद्‌गम और आर्येतर के वेद हैं।"

उक्त कथन लोकगीत की महत्ता और उसकी प्राचीनता का प्रमाण है। लोकगीत आदिम गीत हैं, क्योंकि इसमें लोक-संस्कृति समाहित होती है, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी वाचिक परंपरा से हस्तांतरित होती है। इसे आदिम मनुष्य का हृदयगान कहें तो अतिश्योक्ति नहीं होगी। लोकगीतों में लोक ही प्रतिबिंबित होता है। लोकगीत,

लोक-समाज के सामूहिक सृजन का प्रतिफलन है। अतः ये लोक का प्रतिनिधित्व करते हैं। हर अंचल के अपने लोकगीत होते हैं। छत्तीसगढ़ का लोकजीवन सरल और शांतिप्रिय है। इसलिए इसके लोकगीतों में व्यवहार में सहयोग और सद्भाव का स्वर मुखरित हुआ है। खेती-किसानी के साथ-साथ सामाजिक व सांस्कृतिक कार्यों, तीज-त्यौहारों में समाज के सभी वर्गों की उपस्थिति से हमारा लोक समाज परिपुष्ट होता है। बिना आपसी सामंजस्य और सहयोग के लोक एक पग भी आगे नहीं बढ़ाता। इसके बिना उसकी संस्कृति की प्रवाहमान सरिता अवरुद्ध हो जाती है। संस्कृति की प्रवाहमानता लोकगीतों से ही है।"[3]

भारतीय समाज की रचना धर्म के मूलभूत तत्त्व पर आधारित है। पूरे समाज का अनुभवजन्य ज्ञान और उसकी रचनाशीलता का बल उन लोकगीतों में समाहित होता है। लोक ऋषि देवेंद्र सत्यार्थी के शब्दों में– "जिस प्रकार फल की उत्पत्ति से पहले फूल अपनी बहार दिखाता है, उसी प्रकार बड़े-बड़े प्रतिभाशाली साहित्य सेवियों तथा कलाकारों के आने से पहले ग्रामीण भाट गीत गाकर ग्राम साहित्य की नींव डालते हैं। साहित्य के इस बाल्यकाल में घटना और कल्पना में सगी बहनों का-सा संबंध रहता है। सुख-दुख की कितनी ही समस्याएँ भोले-भाले ग्रामवासियों को अपने साथ हँसाकर या रुलाकर साहित्य-निर्माण के लिए सामग्री प्रदान करती हैं।"[4]

जैसा कि नाम से स्पष्ट है, 'सुआगीत' में 'सुआ' (सुग्गा, तोता) केंद्रीय महत्व रखता है। दीपावली के कुछ दिन पहले नवविवाहित स्त्रियाँ या अविवाहित युवतियाँ बाँस की एक टोकरी में धान भरकर बीच में मिट्टी के बने दो तोते रख देती हैं और संपन्न घरों के आँगन में रखकर उसके चारों ओर एक गोल घेरा बनाकर ताली बजाकर सुआगीत गाते हुए घूम-घूमकर नाचती हैं।" नृत्य करते हुए गाये जाने के कारण इसे 'नृत्यगीत' की संज्ञा दी जाती है।"[5]

ये दो तोते प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं। सुआ यहाँ भारतीय परंपरा की पुराकथाओं में बहुशः प्रयुक्त प्रतीक का स्मरण कराता है। जायसी के 'पद्मावत' में हीरामन तोता गुरु का प्रतीक है, जो आल्हा में भी प्रयुक्त हुआ है। वैदिक साहित्य में 'द्वौ सुपर्णो' का उल्लेख भी ऐसे ही दार्शनिक-आध्यात्मिक अर्थ का संकेत करता है। वैरियन एल्विन के शब्दों में, "इन गीतों में सुग्गा स्त्रियों के विशेषकर नवविवाहिता युवतियों के विश्वस्त सलाहकार के रूप में वर्णित होता है। यह शास्त्रीय भारतीय परंपरा के अनुकूल है कि जो परंपरा सुग्गे को विद्वान पक्षी की तरह पेश करती है, जिसे चारों वेदों का ज्ञान है।"[6]

सुआगीत में ये दो तोते हिंदू लोक-विश्वास के अनुसार महादेव शिव और पार्वती के भी द्योतक प्रतीत होते हैं।

प्यारे लाल गुप्त ने छत्तीसगढ़ के 'सुआगीत को 'ग्रामगीत' कहा है, जिसका आधार यह है कि यह मूलतः गाँवों में प्रचलित है। उन्होंने सुआगीत के विषय को नारी-जीवन के दुख-दर्द से संबंधित मानते हुए उनका वर्गीकरण इस प्रकार किया है–

1. आशीर्वाद एवं वंदना संबंधी

2. नारी-जीवन विषयक

3. पौराणिक तथा धार्मिक विश्वास संबंधी

4. स्वतंत्र प्रबंध कथात्मक।

समग्र रूप से सुआगीत से नारी-जीवन के मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक परिप्रेक्ष्य उद्घाटित होते हैं।

सुआगीत प्रारंभ करने के पहले सुआ गाने वाली ललनाएँ एक आलाप लेती हैं, जो संभवतः वातावरण बनाने का उपक्रम प्रतीत होता है। वह आलाप है–

"तरी हरी नहा ना री नहा ना री नाना

रे सुआना मोर कहि आते पिया ल संदेस

इगढ़ नगर ले तँय उडि उडि जाबे

रे सुआना आगू हे सम्बलपुर राज

खाड़ा मसुरिया ल पेट भर खाइहव

रे सुआना कि भरिहव रइपुर के उड़ान

सइयाँ के बइहाँ के छँइहा में रइहव

रे सुआना पतरेंगवा सुग्घर जवान

एक अठोरिया में कहूँ नइ अइहव

रे सुआना कि मारी कटारी मर जाँव

अतका ल सुन कहे मिट्टू हीरामन

रे सुआना सुन बहिनी किरिया तुहाँर

खोज के संदेसवा मय लेइ अइहाँ

रे सुआना कि जिंहा होहय धनी तुहार।"

(कहीं-कहीं "तरी-नरी नाना मोर तरी नरी नाना" भी मिलता है, जिसका वस्तुतः कोई अर्थ नहीं है-केवल संगीतारंभ का आलाप है।)

सुआ नृत्यगीत के लिए कोई विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि यह परंपरा से ही प्राप्त होता है, तथापि इसके लिए छत्तीसगढ़ की नवविवाहिता या युवतियाँ एक विशिष्ट वेश-भूषा अवश्य धारण

करती हैं, जिसमें छत्तीसगढ़ी पोशाक व गहने उपयुक्त होते हैं। निम्नांकित सुआगीत में नारी मन की यह साध व्यक्त हुई है, तद्नुसार वह अपनी माँ से पैरी, बहुँटा, सूता, टिकली, खूँटी, ककनी आदि आभूषण तथा सिंदूर, लुगरा आदि की माँग करती है, जिससे वह सज-धज कर आकर्षक वेश-भूषा में सुआ संग नाचने जाए–

"दे तो दाई तोर गोड़ के पैरी, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर हाथ के बहुँटा, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर घेंच के सूता, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर माथ के टिकली, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर कान के खूँटी, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर बर हाथ के ककनी, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर माथ के सेंदुर, सुआ नाचे बर जाबोन

दे तो दाई तोर झाँपी के लुगरा, सुआ नाचे बर जाबोन

भला सुआ रे मोर, सुआ नाचे बर जाबोन।"

सुआगीत की एक विशेषता यह भी है कि बिना बाजे-गाजे के केवल तालियों से ही लयात्मकता कायम रहती है और संगीत की सहजता-तरलता-सरसता नारी-कंठ से मुखरित होकर जन-मन को आह्लादित करती है। तालियों के साथ पदसंचालन एवं कमर में लोच नृत्यगत लास्य का आनंद देने में कम नहीं। गति विलंबित और द्रुत रहती है। स्वरों का आरोह-अवरोह सहज होता है।

सुआगीत के प्रारंभ में विद्या की देवी सरस्वती के साथ-साथ शक्ति की अधिष्ठात्री भवानी दुर्गा की वंदना की जाती है–

"सारद माता सरसती, भवानी कि सुवना हो चरण मनावहुँ तोर।

भूले आखर बताबे तैं माता कि सुवना हो रात दिना सुधि लेव।।"

इसी के साथ जो करुणा भरा आग्रह ललनाएँ करती है, वह अत्यंत हृदयविदारक है, जिससे नारी-जीवन में भोगे जाने वाले संत्रास की व्यंजना होती है, क्योंकि तभी तो वे सब कुछ माँगती हैं, पर नारी-जन्म नहीं–

"पइयाँ में लागथौं चंदा सुरुज के रे सुवना

मोला तिरिया जनम झनि देय।

तिरिया जनम मोर गउ के बरोबर रे सुवना।

जहँ पठनव तहँ जाय।।"

सुआ संदेशवाहक के रूप में भी प्रयुक्त हुआ है, जिसका मनुहार करती हुई प्रोषित पति का ललनाएँ उसके सौंदर्य का वर्णन करती हैं–

चोंच कुंदरू की तरह लाल, आँखें मसूर की दाल की तरह, उसके पँख भुट्टे के पत्ते की भाँति हैं। उसके पश्चात् ससुराल की त्रासद स्थिति का वर्णन करती हैं कि सास मारती है ननद गाली देती है, देवर दुश्मन जैसा व्यवहार करता है, क्योंकि उसका पति विदेश गया है–

"चोंच तोर हवय लाली कुंदरू कस रे सुअना

आँखी दिखय मसूरी के दार

जोधरी के पान सही डेना सँवारय, रे सुअना

सुन लेबे बिनती हमार।

सास मोर मारय, ननद गारी देवय, रे सुअना

राजा मोर गये हैं बिदेस

लहुरा देवर मोर जनम के बइरी, रे अना

लेइ जाबे तिरिया संदेस।"

ससुराल में खट रही वधू की पीड़ा तब और बढ़ जाती है, जब उसका भाई उसे लेने आता है और उसे मनचाहा नहीं खिला सकती, क्योंकि सासु माँ का राज है। जो भाई दही-मही खानेवाला है, उसे रूखा-सूखा भोजन परोसने में बहन को संकोच होना स्वाभाविक है–

"मोर भइया आए हे लेनहार, रे सुअना

कोदो अउ भुंडी के भात राँधिले

गठिया गुमी भाजी साग, रे सुअना रे

दही के खवइया, ददा मही के अँचोइया

कइसे के परसों गुमी साग, रे सुअना।"

सुआगीत में नारी की करुणा के साथ-साथ वैवाहिक/पारिवारिक जीवन के स्फुट प्रसंग भी मिलते हैं।

देवर-भाभी के पारस्परिक संबंध विनोदपूर्ण होते हैं, परंतु कहीं-कहीं देवर की कुदृष्टि का भी संकेत मिलता है। भाभी देवर के वार्तालाप का अंश द्रष्टव्य है–

"अँगरी ला मोरि मोरि देवरा जगावय

दुर रे कुकुर दुर रे खेलैया, रे सुआना"

"नो हों कुकुर में नो हों बिलैया, रे सुआना"

"फेर कोने पापी हेरत हे कपाट

फेर छोटे देवर नंदलाल

आए बर अइहौ बाबू मोरे घर ला रे सुआना

फेर सुत जइहौ भइया के पलंग "

"भइया के पलंग भौजी मुसड़ी चाबत हे रे सुआना,

फेर तोरे पलंग सुख नींद"

"मोरे पलंग बाबू छूरी कटारी रे सुआना

सुन ले रे देवर नंदलाल

हमरे पलंग कारी नागिन रे सुआना

डसि डस के जिवरा लेय"

"तुम्हरे पलंग भौजी कारी रे सुआना

फेर भइया ला कइसे बचाय

"तुम्हरे भइया बाबू बड़ नगमतिया

फेर अपन जिउरा लेथे बचाय।"

सुआगीत में भौगोलिक स्थान–नामों का उल्लेख उनके पारस्परिक संबंध का संकेतक है। उदाहरणार्थ, निम्नांकित सुआगीत में 'रतनपुर' और 'ओड़ियान' का उल्लेख दोनों की निकटता को दर्शाता है–

"कौन भइया जाथै रतनपुर

कौन भइया जाथै ओड़ियान,

रे सुआना छोटे भइया जाथै रतनपुर

बड़े भइया जाथै ओड़ियान, रे सुआना।"

पति-पत्नी के बीच प्रणय-मधुर वार्तालाप से भला सुआगीत कैसे अधूरा रह सकता है। पति-पत्नी से कहता है कि मेरा कंबल फटा हुआ है और अगहन-पूस की कड़ी ठंड है, मैंने तुम्हें गोरसी में आग लाने के लिए कहा, परंतु तू केवल राख लेकर आयी है। ग्रामीण जीवन की सहजता इस गीत में चित्रित है-

"कमरा अउ खुमरी मोर झिलिंग-झालंग, मैया मोर

मरि मड़ाए प्रेम हावै राख, रे मैया मोर।"

तब पत्नी कहती है कि तुम गाय चराने जाओ और मैं मठा बेचने जाती हूँ–

"तुम धन जावौ गइया चराइ बर, मोर सुआना

मैं धन मही बेचन जाँव, मोर सुआना।"

शाम हो गयी, मठा बेचते-बेचते वह भूल गयी कि दिन ढल गया है। उसकी माँ दूर, ससुराल दूर। हँस-हँस कर पति से पूछती है कि गेंदा फूल कहाँ से मिला। पति कहता है कि दस-बीस मालिनें थीं। उनमें से एक ने यह दिया है, जिस पर पत्नी को दुख होता है, जो स्वाभाविक है–

"दाई मोर अंते बहिनी ससुराल, रे सुआना

जम्मो झिन हवैं बड़ दूर

हाँसि-हाँसि पूछे घर के दुलहिन, रे सुआना

कहाँ पाए हवौ गेंदा फूल, रे सुआना

हमर बाबू के दस-बिस मालिन, रे सुआना

सोई दिन हमला गेंदा फूल, रे सुआना

आंगन मोर सुखे मनाए मार

पिया गे मोला भूल, रे सुआना।"

अंत में, जिस घर के आँगन में ललनाएँ सुआ नाचती-गाती हैं, उनकी कल्याण-कामना करके सुआ का समापन होता है, शिव-पार्वती के आशीष का भाव है–

"जइसे माता लिहे दिहे आना रे सुआना

तइसे तैं लइले असीस।

धन दोगानी मा तोर घर भरही रे सुआना

जी जुग लाख बरीस।"

नाचने वाली ललनाओं को अनाज या पैसा भेंट स्वरूप दिया जाता है, जिसे वे खुशी-खुशी ग्रहण करती हैं। लोकगीतों की परंपरा मनुष्य के आदिम युग से चली आ रही है। युगों की छाप उसके भावों पर पड़ी और वह अपने जीवन को ईमानदारी से अपनी बोलियों में प्रकाशित करता हुआ आज भी विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करता चला आ रहा है। छत्तीसगढ़ ने अपनी विशाल वक्ष पर अनेक संस्कृतियों का पोषण कर उन्हें सुरक्षित रखा है।

भौगोलिक रचना ने यहाँ के सामाजिक जीवन को बहुत अधिक प्रभावित किया है। बहुदेव पूजा की भूमि छत्तीसगढ़ की विभिन्न जातियों का सबसे बड़ा भंडार उनके लोकगीत हैं। डॉ. शकुंतला वर्मा के शब्दों में– "छत्तीसगढ़ी जनता जनार्दन के पास गीतों की अतुल संपत्ति है, अनंत भंडार है, और वह शाश्वत है। इतनी विशाल निधि की व्याख्या और विश्लेषण और वह भी सम्यक रूप से कर पाना असंभव है, किंतु उसका अवलोकन अवश्य ही किया जा सकता है, जिससे छत्तीसगढ़ी लोकगीतों का सौंदर्य जाना जा सकता है और अब तक के उसके प्रति उपेक्षा-भाव को दूर किया जा सकता है।"[10]

इस नृत्यगीत के माध्यम से नारी-जीवन की करुण गाथा तो कही जाती ही है, साथ-ही-साथ उससे उनको अपना दुख हल्का करने का अवसर भी मिलता है, क्योंकि प्रत्यक्ष रूप से अपने प्रति की गयी क्रूरता का वे भले ही वर्णन न कर पाती हों, परंतु गीत के माध्यम से परोक्ष रूप से वे अपनी आत्माभिव्यक्ति कर लेती हैं। यही कला की अनूठी विशेषता है, जो उसे अक्षुण्ण बनाये रखती है।

संदर्भ

1. श्यामाचरण दुबे, समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1996, पृ. 70

2. दिनेश्वर प्रसाद, लोकसाहित्य और संस्कृति, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2007, पृ. 123-124.

3. पी.सी.लाल यादव, छत्तीसगढ़ के लोकगीतों का सामाजिक संदर्भ, दक्षिण कौशल टुडे (ब्लॉग पोस्ट), 2021.

4. राजन यादव, छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य, प्रकाशक-कुलसचिव पंडित सुंदरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर, 2017, पृ. 7.

5. दयाशंकर शुक्ल, छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य का अध्ययन, वैभव प्रकाशन, रायपुर (द्वितीय संस्करण), 2011, पृ. 134.

6. वैरियर एल्विन, फोक सॉग्ज ऑफ छत्तीसगढ़, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन, 1946, पृ. 192.

7. शकुंतला वर्मा, छत्तीसगढ़ी लोकजीवन और लोकसाहित्य अध्ययन, रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976, पृ. 165.

8. प्यारेलाल गुप्त, प्राचीन छत्तीसगढ़, प्रकाशक-रविशंकर विश्वविद्यालय, रायपुर, 1973, पृ. 381

9. गोरेलाल चंदेल, झेंझरी, भाग-1, लता साहित्य सदन, गाजियाबाद, 2018, पृ.388-394.

10. राजन यादव, छत्तीसगढ़ी लोकसाहित्य, प्रकाशक-कुलसचिव पंडित सुंदरलाल शर्मा (मुक्त) विश्वविद्यालय छत्तीसगढ़, बिलासपुर, 2017, पृ. 08.

विभाषा मिश्र,

सहायक प्राध्यापक (हिंदी विभाग), महाराज अग्रसेन इंटरनेशनल कॉलेज,
रायपुर (छ.ग.)